अरस्तु के राजनैतिक एवं सामाजिक आदर्शों का न्याय दर्शन में योगदान : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

मंजू सुपुत्री रोहताश

ग्राम- लुखी, ब्लॉक-नाहड़ (रेवाड़ी)

लेख सार :

अरस्तु को इस बात का भी श्रेय दिया जाता है कि उसने राजनीति को फुटकर विचारों से ऊपर उठाकर स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता दिलाने का काम किया। उससे पूर्व वह धर्म–दर्शन का हिस्सा थी। भारत में तो वह आगे भी बनी रही। अरस्तु का समकालीन चाणक्य 'अर्थशास्त्र' में अपने राजनीतिक विचारों को सामने रखता है और मजबूत केंद्र के समर्थन में तर्क देते हुए राज्य की सुरक्षा और मजबूती हेतु अनेक सुझाव भी देता है, परंतु 'अर्थशास्त्र' और 'पॉलिटिक्स' की विचारधारा में खास अंतर है। यह अंतर प्राचीन भारतीय और पश्चिम के राजनीतिक दर्शन का भी है। उनमें अरस्तु की विचारधारा आधुनिकता बोध से संपन्न और मानव मूल्यों के करीब है। 'पॉलिटिक्स' के केंद्र में भी मनुष्य और राज्य है। दोनों का लक्ष्य नैतिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति है। अरस्तु के अनुसार राजनीतिक–सामाजिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है नागरिक और राज्य दोनों अपनी–अपनी मर्यादा में रहें। सामान्य नैतिकता का अनुपालन करते हुए एक– दूसरे के हितों की रक्षा करें। इस तरह मनुष्य एवं राज्य दोनों एक–दूसरे के लिए साध्य भी साधन भी।'अर्थशास्त्र' में राज्य अपेक्षाकृत शक्तिशाली संस्था है। उसमें राज्य हित के आगे मनुष्य की उपयोगिता महज संसाधन जितनी है। लोककल्याण के नाम पर चाणक्य यदि राज्य के कुछ कर्तव्य सुनिश्चित करता है तो उसका ध्येय मात्र राज्य के लिए योग्य मनुष्यों की आपूर्ति तक सीमित हैं।'पॉलिटिक्स' के विचारों के केंद्र में नैतिकता है। वहां राज्य का महत्त्व उसके साथ पूरे समाज का हित जुड़े होने के कारण है। राज्य द्वारा अपने हितों के लिए नागरिक हितों की बलि चढ़ाना निषिद्ध बताया गया है। दूसरी ओर 'अर्थशास्त्र' के नियम नैतिकता के बजाए धर्म को केंद्र में रखकर बुने गए हैं, जहां 'कल्याण' व्यक्ति का अधिकार न होकर, दैवीय अनुकंपा के रूप में प्राप्त होता है। जिसका ध्येय राज्य की मजबूती और संपन्नता के लिए आवश्यक जनबल का समर्थन और सहयोग प्राप्त करना है। ठीक ऐसे ही जैसे कोई पूंजीपति श्रमिक कामगार को मात्र उतना देता है, जिससे वह अपनी स्वामी के मुनाफे में उत्तरोत्तर संवृद्धि हेतु अपने उत्पादन–सामर्थ्य को बनाए रख सके।

ज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु–शिष्य परंपरा का महत्त्व बताया गया है। आज भी है। भारत में सैकड़ों आश्रम और धर्मगुरु हैं। उनके लाखों–करोड़ों भक्त हैं। प्रत्येक गुरु अपने शिष्यों के भौतिक अधिभौतिक उत्थान का दावा करता है। शिष्य भी मानते हैं कि उनके गुरु अनन्य हैं। वे अपने और गुरु के बीच मर्यादा की लकीर खींचे रहते हैं। जिसके अनुसार गुरु की आलोचना करना, सुनना यहां तक कि मन में गुरु के प्रति भूल से भी अविश्वास लाना पाप माना जाता है। इसी जड़–श्रद्धा के भरोसे गुरुओं का कारोबार चलता है। उस कारोबार में कभी घाटा नहीं आता। जड़–श्रद्धा के बल पर ही गुरु कमाते, भक्त गंवाते हैं। बुद्ध ने जड़–श्रद्धा का निषेध किया था। अपने शिष्यों को उन्होंने अपना दीपक आप बनने (अप्प दीपो भव), उनके पंथ पर सोच–समझकर विश्वास करने (एहि पस्सिक) का आवाह्न किया था–

''जैसे सोने को तपाकर, काटकर और कसौटी पर रगड़कर तरह–तरह से उसकी परीक्षा ली जाती है, उसके शुद्ध अथवा मिलावटी होने का निर्णय लिया जाता है, उसी प्रकार हे पंडितो और भिक्षुओ मेरे वचनों को जांच–परखकर स्वीकार करौ। केवल मेरे प्रति सम्मान के कारण उन्हें स्वीकार मत करो। ''

सभी धर्म–दर्शनों की स्थिति ऐसी नहीं थी। मीमांसक कुमारिल भट्ट को मात्र इस कारण खुद को प्रायश्चिताग्नि के सुपुर्द करना पड़ा था, क्योंकि उन्होंने गुरु की पूर्वानुमति के बिना बौद्ध दर्शन का अध्ययन इसलिए किया था, ताकि शास्त्रार्थ में बौद्ध आचार्यों को पराजित कर वैदिक दर्शनों की श्रेष्ठता सिद्ध कर सकें। उद्देश्य सही था। ज्ञान का भी यही तकाजा था। परंतु तत्कालीन परंपरा को स्वीकार्य न था। कुमारिल अपने उद्देश्य में सफल हुए थे, किंतु गुरु–द्रोह के अपराध के प्रायश्चित– स्वरूप खुद को अग्नि–समर्पित करना पड़ा था। सुकरात, प्लेटो और अरस्तु की गुरु–शिष्य परंपरा में अंधश्रद्धा के लिए कोई स्थान न था। तीनों परंपरा–पोषण के बजाय उसके परिमार्जन पर जोर देते हैं। उसका आदि प्रस्तावक सुकरात खुले संवाद में विश्वास रखता था। यह सुनकर कि लोग उसे यूनान का सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी मानते हैं, सुकरात को अपने ही ऊपर संदेह होने लगा था। संदेह दूर करने के लिए वह एथेंस के बुद्धिमान कहे जाने वाले राजनयिकों, दार्शनिकों और तत्ववेत्ताओं से मिला। अंततः इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि वह सचमुच सबसे बुद्धिमान है। इसलिए नहीं कि उसे सर्वाधिक ज्ञान है। वह केवल एक चीज दूसरों से अधिक जानता है, वह है– अपने ही अज्ञान का ज्ञान। श्मुझे अपने अज्ञान का ज्ञान हैकृ कहकर उसने खुद को उन दार्शनिकों, विचारकों और तत्ववेत्ताओं से अलग कर लिया था, जिन्हें अपने ज्ञान का गुमान था। उसके लिए ज्ञान से ज्यादा ज्ञानार्जन की चाहत और उसकी कोशिश का महत्त्व था। ज्ञान की मौलिकता के लिए वह संदेह को आवश्यक मानता था। सुकरात की इसी प्रेरणा पर अरस्तु ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी माना है। विवेकशीलता में स्वयं अपने ज्ञानानुभवों के पुनरावलोकन की, संदेह की भावना अंतर्निहित है। ज्ञानार्जन के लिए संदेह की अनिवार्यता को रेखांकित करते हुए ग्यारहवीं शताब्दी के फ्रांसिसी विचारक पीटर अबलार्ड ने लिखा थाकृ संदेह हमें जांच–पड़ताल के लिए प्रेरित करता है। जांच–पड़ताल हमें सत्य का दर्शन कराती है। सुकरात प्लेटो और अरस्तु की गयी के विचारों मेंअंधश्रद्धा के लिए कोई जगह न थी। हालांकि इस विद्वान त्रयी को अनुपम और अद्वितीय मानने पर कुछ लेखकों को ऐतराज है।

'पॉलिटिक्स' का अनुवाद करते समय भोलानाथ शर्मा ने 'सुकरात – प्लेटो अरस्तु की त्रयी के समकक्ष पराशर व्यास और शुकदेव त्रयी का उदाहरण दिया है। इस निष्कर्ष के पीछे उनके पूर्वाग्रह साफ नजर आते हैं। यह ठीक है कि पराशर व्यास और शुकदेव की पिता–पुत्र–पौत्र त्रयी में भी तीनों लेखक थे। पराशर को भारतीय परंपरा में पुराणों के आदि रचियता होने का श्रेय दिया जाता है। बताया जाता है कि व्यास ने महाभारत के अलावा पिता के लिखे पुराणों का पुनर्लेखन कर, उन्हें वह कलेवर प्रदान किया जिसमें वे आज प्राप्त होते हैं। तीसरे शुकदेव ने 'भागवत पुराण' लिखकर पुराण साहित्य को समृद्धि प्रदान की थी। बावजूद इसके ये तीनों भारतीय लेखक उस कोटि के मौलिक लेखक–विचारक नहीं हैं, जिस कोटि के सुकरात – प्लेटो और अरस्तु हैं। व्यास की कृति 'महाभारत' अवश्य अलग है। उसमें अपने समय का सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विमर्श मौजूद है, परंतु जिस महाभारत से हम आज परिचित हैं, वह ईस्वी संवत्सर की शुरुआत के आसपास की कृति है, जब देश में एकराष्ट्र की भावना प्रबल थी। गणतांत्रिक पद्धति पर आधारित छोटे–छोटे राज्यों को अनावश्यक मान लिया गया था। एकराष्ट्र अथवा साम्राज्यवादी

सोच का उद्‌भव पूरी दुनिया में लगभग एक साथ हुआ था। भारत में इसका प्रवर्त्तक चाणक्य था, जबकि यूनान में अरस्तु ने सिकंदर की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं का समर्थन करते हुए उसे एशिया पूर्व के छोटे–छोटे देशों को अपने अधीन करने की सलाह दी थी। महाभारत मूलतः धार्मिक ग्रंथ है और उसकी रचना शताब्दियों के अंतराल में एकाधिक लेखकों द्वारा की गई है। दूसरे केवल लेखक होना ही शर्त होती तो एक ही धारा के तीन लेखकों के अनेक उदाहरण दुनिया भर में मिल जाएंगे। यहां कसौटी ज्ञान की विलक्षणता, मनुष्यता के प्रति अगाध निष्ठा तथा एक–दूसरे से असहमति जताते हुए उसकी ज्ञान परंपरा को विस्तृत तथा सतत परिमार्जित करने की है जिसपर यह दार्शनिक त्रयी विश्व पटल पर अनुपम है। प्लेटो के लेखन के हर हिस्से पर सुकरात की छाप है। इसी तरह अरस्तु के लेखन पर भी प्लेटो का प्रभाव छाया हुआ है, लेकिन प्लेटो सुकरात से तथा अरस्तु प्लेटो से कदम–कदम पर असहमति दर्शाते हैं। प्लेटो से अरस्तु की असहमतियों का दायरा तो इतना बड़ा है कि उन्हें एक ही दर्शन–परंपरा से जोड़ना अनुचित जान पड़ता है। जैसे कि पारिवारिक जीवन का महत्त्व, सुख–स्वास्थ्य प्राप्ति के संसाधन, लोकमत का सम्मान, जनसाधारण की रुचि एवं इच्छाओं का समादर जैसे विषयों पर अरस्तु पर्याप्त उदार था। जबकि प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में सामूहिक संस्कृति और सहजीवन पर जोर देते हुए परिवार संस्था को अनावश्यक मानते हुए कठोर अनुशासित जीवन जीने की अनुशंसा की है।

फिर प्रभाव किस बात का है? कौन–सा सूत्र है जो इन तीनों को परस्पर जोड़ता है? इस तारतम्यता को इन्हें पड़ते हुए आसानी से समझा जा सकता है। एकसूत्रात्मकता पराशर व्यास–शुकदेवश की त्रयी के बीच भी है। अंतर केवल इतना है कि भारतीय परंपरा के लेखकों पर अध्यात्म प्रभावी रहा है, जो अतिरेकी आस्था और विश्वास के दबाव में अंधानुकरण में ढल जाता है। जबकि श्सुकरात – प्लेटो अरस्तु के बीच ज्ञान की लालसा तथा शुभत्व की खोज के लिए एक–दूसरे पर संदेह का सिलसिला निरंतर बना रहता है। परंपरा–पोषी होने के कारण भारतीय लेखक एक–दूसरे को दोहराते अथवा परंपरा का पिष्ठ–प्रेषण करते हुए नजर आते हैं। पश्चिम का लेखन विशेषकर वह लेखन जो सुकरात से आरंभ होकर अरस्तु और आगे थामस हॉब्स, जान लॉक, रूसो, वाल्तेयर, बँथम, हीगेल, मार्क्स आदि तक जाता है, उसमें संदेह का सिलसिला कभी टूटता नहीं है। वाल्तेयर और रूसो एक–दूसरे के समकालीन लेखक थे। जीते–जी उनमें हमेशा विलगाव बना रहा। दोनों एक–दूसरे के कट्टर आलोचक थे। परंतु वाल्तेयर और रूसो को पढ़ते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें से किसी एक के मन में ज्ञान की ललक, मनुष्यता को बेहतर बनाए जाने की उत्कंठा दूसरे से कम है। जिस तरह प्लेटो सुकरात के प्रति और अरस्तु प्लेटो के प्रति अगाध प्रेम और विश्वास रखते हुए, विनम्र असहमति के साथ विचार–परंपरा को आगे बढ़ाते हैं, वैसाभारतीय परंपरा में दुर्लभ है। प्लेटो के विपुल वाङ्मय में एक भी शब्द एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है, जिसपर सुकरात का असर न हौ। बावजूद इसके जहां आवश्यक समझा उसने सुकरात की बात भी काटी है। अरस्तु तो प्लेटो से भी आगे निकल जाता है। उसके मन में गुरु प्लेटो के प्रति गहरा सम्मान था। बावजूद इसके उसके ग्रंथों में प्लेटो के विचारों के प्रति सहमति से अधिक असहमति नजर आती है। इस तरह प्लेटो और अरस्तु दोनों अपने–अपने गुरु के ज्ञान को आत्मसात करते हैं, परंतु उनका विश्वास उस परंपरा को आगे बढ़ाने में है, न कि अनुसरण में उसका विश्वास केवल मनुष्यता में है। प्लेटो भावुक, कवि हृदय है, जबकि अरस्तु अपेक्षाकृत वैज्ञानिक प्रवृत्ति से युक्त, इसलिए अरस्तु के लेखन में असहमति अधिक मुखर हैं। इस कारण कुछ विद्वान तो अरस्तु को प्लेटो का शिष्य मानने को ही तैयार नहीं है। लेकिन अरस्तु के लेखन में प्लेटो के प्रति जैसा सम्मान भाव है उसे देखते हुए यह असंभव भी नहीं लगता। दूसरी ओर पुराणों में कथ्य के आधार पर अंतर न के बराबर है। उनमें

भयंकर दोहराव भी है। अधिकांश चरित्र मिथकीय हैं। ऐसा महसूस होगा मानो सारे पौराणिक ग्रंथ एक ही लेखक द्वारा रचित अलग–अलग कालखंड की कृतियां हैं, अथवा उनके लेखक मंजे हुए किस्सागो थे। उन्होंने समाज में पहले से प्रचलित कहानियों को अतिरेकपूर्ण कल्पनाओं और रोचकता के साथ पौराणिक कलेवर प्रदान किया था।

जीवन परिचय :–

अरस्तु (जन्म 384 ईस्वीपूर्व) और प्लेटो के जन्म के बीच लगभग चार दशक का अंतराल था।Aristole का अर्थ है– 'श्रेष्ठतम लक्ष्य' (The best purpose)। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने नामानुरूप अरस्तु ने जीवन में महान उद्देश्य सिद्ध किए। अरस्तु का मुख्य कर्मक्षेत्र एथेंस रहा, परंतु सुकरात और प्लेटो की भांति वह मूल एथेंसवासी नहीं था। उसका जन्म एथेंस से लगभग 340 किलोमीटर दूर थ्रेस नदी के किनारे स्थित स्तेगिरा नामक छोटे से शहर में हुआ था। उसके पिता का नाम निकोमारक्स था। उनके पूर्वज मैसेनिया से ईसापूर्व सातवीं–आठवीं शताब्दी में स्तेगिरा में आकर बसे थे। उसकी मां का नाम फैस्तिस था और उसके पूर्वज यूबोइया प्रदेश के खालिक्स नामक मामूली शहर के रहने वाले थे। मेसिन के राजा एमींतस जिसकी प्रतिष्ठा सिंकदर का दादा होने के कारण भी हैकृका निजी चिकित्सक होने के कारण निकोमाराक्स् की समाज में प्रतिष्ठा थी। वे वैद्यों की पंचायत के सदस्य भी थे। उन दिनों यूनान के अनेक राज्यों में नगर– राज्य की व्यवस्था थी, जहां शासन प्रक्रिया में अधिकांश नागरिकों की भागीदारी रहती थी। मेडिसन में राजतंत्र था। और जैसा कि इस प्रकार की राज्य प्रणालियों में होता है, मेडिसन में भी वंशानुक्रम के आधार पर राजा की घोषणा की जाती थी। अरस्तु के बचपन के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। यत्र–तत्र बिखरी सूचनाओं से पता चलता है कि उसकी प्राथमिक शिक्षा होमर की रचनाओं से आरंभ हुई थी। उसपर अपने चिकित्सक पिता का विशेष प्रभाव पड़ा। उन दिनों चिकित्सक परिवार के बच्चों को बचपन से ही शल्य चिकित्सा का प्रशिक्षण दिया जाता था। सो अरस्तु को भी शरीर विज्ञान और वनस्पतियों की शिक्षा बचपन से ही मिलने लगी थी। शरीर विज्ञान और प्रकृति–विज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में अरस्तु की रुचि को देखते हुए उस समय शायद ही कोई कल्पना कर सकता था कि आगे चलकर यूनानी दर्शन और तर्कशास्त्र का महापंडित कहलाएगा। बचपन के वही अनुभव कालांतर में विज्ञान, विशेषकर वनस्पति शास्त्र के क्षेत्र में उसकी रुचि का कारण बनै। यह भी बताया जाता है कि बचपन के चिकित्सा क्षेत्र के अनुभवों के कारण ही अरस्तु को चिकित्सकों की स्थानीय संस्था का सदस्य बना लिया था।

अरस्तु का परिवार समृद्ध था। इसलिए बचपन में उसे सुख–सुविधाओं की कमी न थी। उसका बचपन राजपरिवार के लोगों के सान्निध्य में, सुखपूर्वक बीता। संयोगवश अरस्तु के माता–पिता की मृत्यु उसकी किशोरावस्था में ही हो चुकी थी। उसकेबाद उसकी देखभाल का दायित्व उसके एक रिश्तेदार प्रॉक्सीनस ने संभाला। सुकरात की भांति अरस्तु की आरंभिक इच्छा भी विज्ञान के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने की थी। उसने अपने जीवन का लंबा समय वैज्ञानिक अनुभवों के लिए लगाया था। अनेक ग्रंथों की रचना की, बाद में वह प्रकृति विज्ञान से उकताने लगा। इसका कारण स्टेगिरा की राजनीति थी। सम्राट एमींत महत्त्वाकांक्षी था। राज्य की सीमाओं के विस्तार के लिए उसने कई युद्ध लड़े थे। जिसमें उसे सफलता भी मिली थी। लेकिन राज्य की सीमाओं का विस्तार और प्रजा के सुख–संतोष में विस्तार के बीच कोई तालमेल न था। लगातार युद्ध के मैदान में रहने वाले राजा की प्रजा को जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे कष्ट स्तेगिरा की प्रजा को भी भोगने पड़ते थे। इसी विसंगति से अरस्तु के मन में राजनीति को समझने की ललक पैदा हुई। उसने अनुभव किया था कि राज्य के उद्देश्यों तथा उसके कार्यों के बीच कोई तालमेल नहीं है। युवावस्था

तक पहुंचते–पहुंचते वह ज्ञान के परंपरागत संसाधनों से उकताने लगा था। उसका झुकाव दर्शन और राजनीति की ओर गया। उस समय पूरे यूनान में प्लेटो द्वारा स्थापित 'लीषियम' की प्रतिष्ठा थी। अरस्तु की प्रतिभा और उच्च शिक्षा के प्रति लगन को देखते हुए प्रॉक्सीनस ने उसका दाखिला प्लेटो की अकादेमी में करा दिया। ईस्वी पूर्व 367 में वह एथेंस पहुँचकर प्लेटो की अकादमी का सदस्य बन गया। उस समय उसकी वयस् मात्र 17 वर्ष थी। अकादमी में आने का उद्देश्य केवल राजनीति और दर्शन की शिक्षा के साथ–साथ विश्व के सबसे बड़े विश्वविद्यालय में रहकर अध्ययन करने की लालसा थी।

अरस्तु प्लेटो की अकादेमी में लगभग बीस वर्षों तक रहा। वहां रहते हुए उसने गणित, दर्शन, राजनीति आदि विषयों में ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद कुछ अर्से तक अकादेमी में अध्यापन कार्य भी किया। यहीं उसके और प्लेटो के बीच आत्मीयता का विस्तार हुआ। अरस्तु को पुस्तकें जमा करने का शौक था और अपने धन का बड़ा हिस्सा पुस्तकों और पांडुलिपियों को जुटाने पर करता था। प्लेटो ने उसके आवास को श्श्रेष्ठ अध्येता का घरश कहा था। कुछ लोग मजाक में कहा करते थे कि ईश्वर अरस्तु के मस्तिष्क में गहरा गड्ढा बना दिया है, जिसमें वह पुस्तकों को सहेज कर रखता है। अकादेमी में रहते हुए अरस्तु पर प्लेटो की विद्वता का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। प्लेटो की लेखन शैली का अनुकरण करते हुए उसने अकादमी प्रवास के दौरान भौतिकी, जीवविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्व–दर्शन आदि पर अनेक पुस्तकों की रचना की। जहां अरस्तु के मन में अपने गुरु के प्रति बेहद सम्मान था, वहीं प्लेटो भी अपने योग्यतम शिष्य की प्रतिभा का मुरीद था। वह उसे 'अकादेमी का मस्तिष्क' और 'सर्वश्रेष्ठ अध्ययनशील' विद्यार्थी मानता था। प्लेटो का निधन हुआ, उस समय अरस्तु की उम्र लगभग 37 वर्ष थी। वह प्लेटो के उत्तराधिकारियों में से एक था। प्रतिभा को देखते हुए अरस्तु की दावेदारी भी बनती थी। वह प्लेटो का वास्तविक उत्तराधिकारी है, यह उसने आगे चलकर सिद्ध भी कर दिया था। परंतु 'अकादमी' का अध्यक्ष प्लेटो के रिश्तेदार तथा गणित एवं जीवविज्ञान के पंडित स्पूसिपस को बनाया गया। इसका कारण प्लेटो से अरस्तु की वैचारिक असहमतियां भी थीं। अधिकारियों में इतना साहस न था कि अकादेमी का संचालन का दायित्व ऐसे व्यक्ति के हाथों में सौंप दें, जिसकी अकादेमी के संस्थापक और गुरु से घोर असहमतियां रही हों, हालांकि अरस्तु की प्रतिभा को लेकर उन्हें कोई संदेह न था। नतीजा यह हुआ कि अरस्तु का जी अकादेमी से उचट गया। निराश होकर उसने एथेंस छोड़ दिया। वहां से वह माइसिया में एटारनियस नामक स्थान पर पहुंचा। वहां उसे अकादेमी के पूर्व छात्रों की मंडली का सदस्य चुन लिया गया। मंडली में एटारनियस का शासक हरमियॉस भी शामिल था। इससे अरस्तु को पुनः राजपरिवार के निकट आने का अवसर मिला। कुछ ही दिनों में हरमियॉस और अरस्तु गहरे दोस्त बन गए। इसका सुखद परिणाम अरस्तु और हरमियॉस की भतीजी (कुछ विद्वानों के अनुसार भानजी) पिथियास के विवाह के रूप में सामने आया।उसके फलस्वरूप उसके जीवन में स्थायित्व आया। अकादमी में प्राप्त गणित और विज्ञान की शिक्षा बहुत कारगर सिद्ध हुई। पिथियास से विवाह के उपरांत अरस्तु ने खुद को प्रकृति विज्ञान की खोज में लगा दिया। समुद्र तटीय स्थानों पर जाकर वह वनस्पतियों और जीव–जंतुओं का अध्ययन करने लगा। उन अनुभवों के आधार पर उसने आगे चलकर कई पुस्तकों की रचना की। एथेंस छोड़ने के बाद 12 वर्षों तक वह इसी तरह अनुभव और ज्ञान बंटोरता रहा। इस बीच राजतंत्र कीनिरंकुशता को करीब से देखने का अवसर मिला। कदाचित इसी बीच उसके मन में छोटे–छोटे राज्यों की विकृतियां सामने आने लगी थीं, वही अनुभव कालांतर में आगे चलकर पॉलिटिक्स एवं एथिक्स जैसे ग्रन्थों की प्रेरणा बनीं। अपने उत्तरवर्ती जीवन में अरस्तु ने एक

अन्य युवती हरपिलिस से विवाह किया, जिससे उसे संतान हुई। पुत्र का नाम उसने अपने पिता के नाम पर निकोमाराक्स् रखा।

अरस्तु का न्याय दर्शन :–

अरस्तु की विलक्षणता उसके तार्किक विश्लेषण में है। सुकरात और प्लेटो की शैली मुख्यतः निगमनात्मक थी। अंतिम निष्कर्ष तक पहुंचने से पहले सुकरात अपने प्रतिपक्षी के आगे तर्क करता था। उत्तर प्राप्त होने पर वह प्रति तर्क अथवा प्रत्युत्तर के माध्यम से बातचीत को आगे बढ़ाता था। सुकरात को पढ़ते हुए सुधी पाठक समझ जाता है कि संबंधित विषय को लेकर उसका खास दृष्टिकोण है। परंतु निष्कर्ष को सामने रखने से पूर्व वह उसके सभी पक्षों को गंभीरतापूर्वक परख लेना चाहताहै। प्रत्येक तर्क के साथ वह अपने मंतव्य को मजबूत करता जाता है। संवादात्मक शैली इसमें सहायक बनती है। यह तर्क की निगमनात्मक पद्धति है, जिसमें एक परिकल्पना को सिद्धांत में बदलने के लिए उसके समर्थन में तर्क जुटाए जाते हैं। पर्याप्त साक्ष्य हों तो ठीक वरना उस परिकल्पना को किनारे कर नए शोध की शुरुआत की जाती है। इसका मुख्य प्रयोग विज्ञान में होता है, जिसमें एक परिकल्पना के साथ परीक्षण, अनुरक्षण करते हुए निष्कर्ष तक पहुंचने की कोशिश की जाती है। आगमनात्मक पद्धति में निष्कर्ष भविष्य में निहित होता है। उससे जुड़ी कुछ छोटी–छोटी स्थितियां, विचार अथवा अनुभवादि होते हैं। फिर उनकी पड़ताल, पुराने निष्कर्षो के साथ मिलान, व्याख्या और परिणामों में आवश्यक संशोधन– परिवर्धन के बाद अंतिम निष्कर्ष तक पहुंचा जाता है। अरस्तु को तर्क के क्षेत्र में आगमनात्मक पद्धति के प्रथम उपयोग का श्रेय भी प्राप्त है।

अरस्तु के जीवनकाल में यूनान भारी उथल–पुथल के दौर से गुजर रहा था। लोग छोटे–छोटे राज्यों से उकताने लगे थे। गणतांत्रिक प्रणाली को नाकाम होते देख साम्राज्यवादियों का हौसला बढ़ा था। वे नए सिरे से साम्राज्यवादी विस्तार की तैयारियों में लगे थे। छोटे राज्यों के असफल होने के दो कारण थे। पहला उनमें आपस में बहुत झगड़े होते थे, जरा–सी बात पर तलवारें खिंच जाया करती थीं। दूसरा और प्रमुख कारण था दृ व्यापारिक बाधाएं। ईसा पूर्व पांचवी छठी शताब्दी में अंतर्प्राद्वीपीय व्यापार ने काफी तरक्की की थी। व्यापारिक बेड़े दूर–दराज के राज्यों के साथ व्यापार करते थे। दूसरे राज्य में व्यापार की अनुमति पारस्परिक राजनीतिक संबंधों पर निर्भर करती थी। संबंध अनुकूल हों तब भी शिल्पकार संगठनों को दूसरे राज्य में व्यापार हेतु भारी–भरकम करों का भुगतान करना पड़ता था। बड़े राज्यों के गठन के पीछे मूल विचार था कि उनमें मुक्त व्यापार के लिए अधिक बाजार उपलब्ध हो सकेगा। कुल मिलाकर बड़े राज्यों के गठन के पीछे जहां सभ्यताकरण की प्रेरणाएं थीं, वहीं वर्तमान के प्रति असंतोष की भावना भी थी। अरस्तु जैसा प्रखर विद्वान परिवर्तनों का मूक– निष्पंद द्रष्टा बनकर नहीं रह सकता था। वह दार्शनिक था। विचारों का उसकी दुनिया में महत्त्व था। विचारों को वहकिसी भी प्रकार के परिवर्तन की आधारशिला मानता था। उसका मानना था कि मनुष्य श्रेष्ठ का चयन तब कर सकता है, जब उसे श्रेष्ठत्व का बोध हौ। उन खूबियों की जानकारी हो जो श्रेष्ठ को श्रेष्ठत्व प्रदान करती हैं। ऐसा नहीं है कि इसकी शुरुआत अरस्तु या प्लेटो से हुई हौ। दर्शन के रूप में राजनीति के अध्ययन की शुरुआत बहुत पहले हो चुकी थी। प्राचीन यूनान में होमर, लायक्राग्स, सोलन, प्रोटेगोरस, एंडीफोन, पाइथागोरस, जेनोफीन जैसे अनेक नाम हैं, जिन्होंने राजनीति को सभ्यताकरण के उपकरण की भांति प्रयुक्त किया था। तथापि सुसंगत राजनीतिक चिंतन का अभाव था। राजा प्रजा की मांग तथा अपनी सुविधा के अनुसार कुछ नियम बना लिया करते थे। फिर लंबे समय तक उन्हीं को मार्गदर्शक मानकर काम चलाया जाता था। उनमें से कुछ पर अमल हो

पाता था, कुछ पर नहीं। प्रजा कुछ समय तक प्रशासन की दुर्बलताओं को सहती। धीरे–धीरे असंतोष उमड़ने लगता था। फलस्वरूप नए सिरे से व्यवस्था परिवर्तन की मांग उठने लगती थी। नियमों में बड़ा परिवर्तन प्रायः बड़े सत्ता–परिवर्तन के साथ ही हो पाता था।

प्लेटो ने न केवल विभिन्न राजनीतिक दर्शनों को एक साथ अध्ययन–चिंतन का विषय बनाया, वहीं उनकी खूबियों और खामियों पर भी चर्चा की। उसका लक्ष्य सामाजिक आदर्श थे, जिनके लिए वे राजनीति को औजार के रूप में उपयोग करना चाहता था। अरस्तु ने उस अध्ययन को तर्कसम्मत ढंग से विस्तार दिया। उसके लिए कसौटी न्याय और नैतिकता को बनाया। अरस्तु की कामना ऐसे राज्य की थी, जो परमशुभ की प्राप्ति हेतु सतत अग्रसर हौ। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अच्छाइयों के साथ जीने की आजादी हौ। और वह अंतःस्फूर्त प्रेरणा के साथ लक्ष्य प्राप्ति हेतु संकल्परत हौ। यह तभी संभव है जब व्यक्ति को कानून और समाज की मर्यादा में, वह सब कुछ करने की स्वतंत्रता हो जिसे वह अपने लिए उपयुक्त मानता है। इसके लिए आवश्यक है कि राज्य अपेक्षित रूप में उदार हौ। निरंकुश, अल्पतंत्रात्मक राज्यों में जनसाधारण से उसके चयन का अधिकार छीन लिया जाता है। इस कारण प्लेटो ने निरंकुश राज्य को सबसे बुरा माना है। उसके अनुसार निरंकुश राज्य में नीचे से ऊपर तक सभी स्वार्थ–लिप्त होते हैं। संसाधनों पर कुछ लोगों का अधिकार होता है। बहुसंख्यक वर्ग से अपेक्षा की जाती है कि वह अल्पसंख्यक शासक वर्ग की मनमानियों को सहते हुए शासन में सहयोग करे तथा राज्य के हित को, जो वास्तव में उसपर शासक वर्ग द्वारा थोपा हुआ उसका स्वार्थ होता हैकृअपना हित समझकर बर्ताव करें। ऐसे राज्य में मनुष्य सज्जन की संगत को तरस जाता है। दुर्जन उसे चारों ओर से घेरे रहते हैं। परिणामस्वरूप वह अपनी ही अच्छाइयों से कट जाता है। दुष्प्रभाव केवल यहीं तक सीमिन नहीं रहता। अपने चारों और स्वार्थपरक माहौल देख भले नागरिकों का अपनी मूल भूत अच्छाई से भरोसा उठने लगता है। वे मान लेते हैं कि अस्तित्व को बचाए रखने के लिए दुर्जनों के बीच दुर्जन जैसा व्यवहार करना उसकी मजबूरी है। बुराई के लिए आपधापी में अच्छाई की बलि चढ़ा दी जाती है। परिणामस्वरूप लोगों के स्वार्थ प्रबल होने लगते हैं। केवल अपने लिए जीने की होड़ मच जाती है। कुल मिलाकर निरंकुश राज्य नागरिकों को स्वार्थ के लिए प्रेरित करता है। ऐसे समाजों में चूंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए जीता है, इसलिए सामूहिक हितों के लिए संगठित प्रतिरोध की उसकी क्षमता निरंतर घटती जाती है। ऐसे समाजों में न्याय के अवसर विरल हो जाते हैं।

प्लेटो व्यक्ति एवं समाज की अंतः निर्भरता पर जोर देता है। सामाजिकता की शर्त है कि अन्योन्याश्रितता केवल सुख– सुविधाओं और संसाधनों की नहीं, आचार–व्यवहार की भी बनी रहै। इस दृष्टि से मनुष्य तथा समाज के बीच बहुत अधिक अंतर नहीं होता। श्रेष्ठ मनुष्य श्रेष्ठ नागरिक भी होता है, किंतु अकेले मनुष्य की श्रेष्ठता क्षणभंगुर होती है। मनुष्य अपने आचार–व्यवहार में श्रेष्ठतर बना रहे, उसके लिए समाज की श्रेष्ठता अपरिहार्य है। इस तरह जो मनुष्य के लिए आदर्श है, प्रकारांतर में वह राज्य के लिए भी आदर्श होना चाहिए। न्याय मानव जीवन का उद्देश्य तभी बन सकता है, जब वह समाज का उद्दिष्ट हौ। यदि समाज में न्याय का अभाव है तो समझना चाहिए कि राज्य एवं नागरिकों के बीच विश्वास एवं तालमेल की कमी है। विचार को आगे बढ़ाता हुआ प्लेटो लिखता है कि मनुष्य के लिए क्या श्रेष्ठ है, इसे उस समय तक नहींजाना जा सकता, जब तक हम यह न जान लें कि राज्य के लिए क्या श्रेष्ठ है। अथवा राज्य जो उसके नागरिकों के लिए श्रेष्ठ है, उसे अपने लिए भी श्रेष्ठ न मान ले निरंकुश राज्य में ऐसा संभव नहीं होता। वहां नागरिकों से न केवल उनके चयन का अधिकार छीन लिया जाता है, बल्कि लोगों को विवश किया जाता है कि वे अपने

विवेक से काम लेने के बजाय दूसरों के आदेश का अनुपालन करें। इससे मनुष्य अपने नागरिक धर्म को भूल जाता है। दूसरी ओर वे लोग जो दूसरों के श्रम और अधिकारों पर कब्जा जमाए होते हैं, विरोध की कोई संभावना न देख उनका दुस्साहस बढ़ता ही जाता है। परिणामस्वरूप स्तरीकरण स्थायी रूप ले लेता है। इससे समाज दो हिस्सों में बंट जाता है। एक ओर आज्ञा प्रदाता समूह होता है। दूसरी ओर आज्ञापालक लोग, जो संख्या में बहुसंख्यक होने के बावजूद अधिकार–वंचित होने के कारण दबाव में रहने को विवश होते हैं। इससे मनुष्य की मूलभूत पहचान जो उसके मानवीकरण की शर्त के साथ जुड़ी है, धूमिल पड़ने लगती है। अरस्तु ने मनुष्य को सभी प्राणियों में श्रेष्ठ माना है। मनुष्य सबके साथ मिलकर जीने को उत्सुक होता है, इस कारण वह दूसरों से श्रेष्ठ है। परंतु सामूहिकरण की भावना जो पशुओं में भी होती है। यहां तक कि कीट–पतंगे भी समूह में जीना जानते हैं। फिर मनुष्य की सामूहिकता और मानवेत्तर प्राणियों की सामूहिकता में क्या अंतर है? अरस्तु के अनुसार मनुष्य की सामूहिकता समाज के रूप में कुछ नियमों से बंधी होती है। या यह कहो कि अपनी सूझबूझ का परिचय देते हुए वह सामाजिक नियमों के रूप में कुछ मर्यादाएं चुनता है। फिर उनके अनुपालन हेतु संस्थाओं का गठन करता है। मानवेत्तर प्राणियों में ऐसा नहीं होता। वहां केवल बल का साम्राज्य होता है। इसलिए जब कोई बलशाली प्राणी अपने से कमजोर पर आक्रमण कर उसके लिए संकट उत्पन्न करता है, तो बाकी जानवरों में उसकी कोई स्थायी प्रतिक्रिया नहीं होती। मनुष्य के साथ ऐसा नहीं है। मानव–समाज में अधिकार एवं कर्तव्य साथ–साथ चलते हैं। परंतु ऐसे समाजों में जहां स्तरीकरण बहुत अधिक हो, समाज शक्तिशाली और शक्ति विपन्न वर्गों में बंटा हो, वहां मिल–जुलकर रहने की प्रवृत्ति भी कमजोर पड़ती जाती है। न्याय– भावना किसी भी मनुष्य की श्रेष्ठता का मापदंड होती है। न्याय–भावना से कटा मनुष्य नितांत जंगली हो सकता है।

सुकरात का विचार था कि राजा उसे बनाना चाहिए जिसमें राजा के लिए अपेक्षित सभी गुणों का समावेश हो। इस तरह सिद्धांत के स्तर पर राजशाही में भी लोकहित को साधने पर जोर दिया जाता है। परंतु यदि समाज का बहुसंख्यक समुदाय ही राज्य, उसकी गतिविधियों और अपने अधिकारों की ओर से उदासीन हो जाए तो शिखर पर बैठे लोगों को मनमानी का अवसर सहज ही मिल जाता है। अरस्तु का विचार था कि यदि नागरिक अपने अधिकारों के प्रति जागरूक तथा शासक वर्ग कर्तव्यों के प्रति पूर्णतः सचेत हो तो कोई भी राजनीतिक दर्शन राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। इसलिए दोष किसी विचार अथवा विचारधारा का न होकर उसका सही अनुपालन न करने तथा राजनीतिज्ञों के स्वार्थ से घिर जाने का है। इसलिए उसने कहा था–

''कम से कम आधी राजनीति उपलब्ध संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण तथा परिस्थितियों का श्रेष्ठतम उपयोग करने में है।''

ऐसा नहीं है कि अरस्तु राजनीतिक परिवर्तन की संभावनाओं अथवा उसमें नए चिंतन और विचारों को अनावश्यक मानता था। उसका विचार था कि राजनीतिक दर्शनों में सुधार की भरपूर संभावना है। उसके लिए राज्य एवं नागरिकों का आपसी विश्वास एवं सहयोग आवश्यक है। यह तभी संभव है जब राज्य के सभी नागरिक श्रेष्ठतम आचरण का प्रदर्शन करें, तथा राज्य के केंद्र पर आसीन शक्तियां अपने कर्तव्यों के प्रति पूरी तरह सजग एवं समर्पित हों। आदर्श राज्य को लेकर कुछ ऐसा ही स्वप्न प्लेटो का भी था। क्या दोनों का परिकल्पनाएं समान हैं? यदि कुछ अंतर है

तो क्या है? 'दि लॉज' प्लेटो की प्रौढ़ वयस् की रचना है। उसकी गिनती राजनीतिक दर्शन की श्रेष्ठतम कृतियों में की जाती है। प्लेटो ने उसमें आदर्श राज्य की संकल्पना को प्रस्तुत किया है। अरस्तु को वह परिकल्पना अव्यावहारिक लगती है। प्लेटो के विचारों को सर्वथा मौलिकऔर अनुपम बताकर वह उसकी प्रशंसा करता है, साथ में यह भी जोड़ देता है कि उसके विचार उत्कृष्ट वैचारिकता से भरपूर होने के साथ–साथ, अत्यधिक क्रांतिकारी किंतु अतिकल्पनात्मक हैं। उसके शब्दों में छिपी व्यंग्य–रेख को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। अप्रत्यक्ष रूप से वह प्लेटो के विचारों को अव्यावहारिक करार देता देता है। इसका आशय यह नहीं है कि राज्य के लिए जिस उच्चतम आदर्श की परिकल्पना प्लेटो करता है, उसके स्वरूप एवं संचालन को लेकर अरस्तु की उससे कुछ कम अपेक्षाएं हैं। देखा जाए तो दार्शनिक सम्राट के रूप में उसकी कामना ऐसे महामानव की है जो उच्च मानवादर्शों से युक्त हौ। जो लोगों की समानता और स्वतंत्रता में विश्वास रखता हौ। उनके सुख एवं सुरक्षा में संवृद्धि के प्रति पूरी तरह संकल्पबद्ध हौ। ऐसा महामानव मिलना असंभव है। यदि चमत्कार–स्वरूप मिल भी जाए तो उसके परिवर्त्ती सम्राट उसी की भांति गुणवंत होंगे इसकी संभावना अत्यंत विरल है। समय के साथ स्वयं व्यक्ति के आदर्श एवं प्राथमिकताओं में बदलाव आ सकता है। आदर्श राज्य के लिए दार्शनिक सम्राट की अनुशंसा करते समय प्लेटो प्रकारांतर में राजतंत्र का ही पक्ष लेता है, जिसमें राजा की इच्छा सर्वोपरि होती है। जबकि व्यक्ति वह चाहे जितना उदार क्यों न हो, अपने ईमानदार सोच, संपूर्ण सदेच्छा और समर्पण के साथ काम भी करता हो, यह आवश्यक नहीं कि जिसे वह विस्तृत जनसमाज के लिए हितकारी मानता है, वह उसके लिए वास्तव में उतना ही हितकारी हौ। पेरियांडर का उदाहरण पीछे दिया गया है। छब्बीस शताब्दी पहले ग्रीक में जन्मा पेरियांडर एक साथ वीर, दूरदृष्टा, आविष्कारक, कुशल प्रशासक, महत्त्वाकांक्षी सम्राट आदि सबकुछ था, उसके शासन के दौरान कोरिंथ ने खूब तरक्की की। कई नए आविष्कार उसने किए। महत्त्वपूर्ण इमारतों का निर्माण कराया, परंतु समय के साथ उसकी मान्यताओं में बदलाव आता गया। आज कुछ लोग उसे तानाशाह के रूप में पहचानते हैं, जबकि कुछ के लिए जो उसके आरंभिक जीवन के कार्यकलापों पर अटके रहते हैं, पेरियांडर संत की हैसियत रखता है। ठीक ऐसे ही जैसे राम के बारे में कहा जाता है। रामराज्य को आदर्श बताने वालों के लिए राम इतना आदर्श राजा है कि वे उसे ईश्वर का दर्जा देते है। परंतु जो लोग उसे शंबूक हत्या का दोषी मानते हैं, उनकी निगाह में वह निरंकुश सम्राट है।

अरस्तु ने वैज्ञानिक का स्वभाव पाया था। उस समय मौजूद संविधानों का अध्ययन करने के पश्चात वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि कोई भी राजनीतिक दर्शन अंतिम रूप से आदर्श नहीं हो सकता। अनेक ऐसे राज्य हैं जहां राजतंत्र था, जहां राजा ने लोक–कल्याण के प्रति अपने दायित्व को समझते हुए लोकहित में बड़े–बड़े काम किए, वहीं अल्पतंत्र, कुलीनतंत्र, गणतंत्रादि के अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो जनता की अपेक्षाओं पर खरे नहीं उत्तर सके। कुल मिल, बहरी जनकध्2सीनतंत्र, लेकर अरस्तु का सीधा–सीधा उपयोगितावादी दृष्टिकोण था, जिसमें वह राज्य के नैतिक आचरण पर जोर देता है। 'अंत भला सो सब भला' कृदृ यदि किसी राजनीतिक तंत्र का कामकाज कल्याणकारी और राज्य के आदर्शों के अनुरूप है, जो नागरिकों के लिए इससे कोई अंतर नहीं पड़ता किस दर्शन का अनुगामी है। परंतु क्या सचमुच ऐसा ही है। यह ठीक है कि राजा यदि उदार और आदर्शोन्मुख है तो वह निस्वार्थ भाव से लोककल्याण की नीतियां अपनाएगा। परंतु ऐसे राजा के अधीन राज्य में अनुकूल परिस्थितियों की गारंटी केवल उस राजा के जीवन या सत्तासीन रहने तक सीमित होगी। राजा बदलने के साथ ही राज्य का नागरिकों के प्रति व्यवहार बदल सकता है। अब यदि लोगों को अपना राजा चुनने की सुविधा न हो, और राजसत्ता उत्तराधिकार में अंतरित होती हो तो अथवा कुछ

समय तक सत्तासीन रहने के बाद सम्राट नागरिकों के प्रति अपने कर्तव्य को भूल जाए तो सारे परिणाम उलट सकते हैं। दूसरे यह कतई आवश्यक नहीं है कि आदर्श राजा का उत्तराधिकारी भी उन्हीं आदर्शों का अनुगामी हो। आशय है राजतंत्र में आदर्श की उपस्थिति यदि हो भी तो वह अल्पकालिक होती है। पीछे पेरियांडर का उदाहरण आया है, जिसकी आरंभ में एक संत के रूप में प्रतिष्ठा थी। परंतु आगे चलकर वह निरंकुश सम्राट के रूप में कुख्यात हुआ। यह कभी भी, किसी भी राज्य में संभव है। ऐसे में राजतंत्र की सीमा अपने आप निर्धारित हो जाती है। लेकिन इससे अरस्तु का कहना गलत नहीं हो जाता। ध्यान रखना चाहिए कि वह आदर्श राजनीतिक दर्शन की बात न कहकर राज्य के आदर्श की बात कर रहा है।

इस निष्कर्ष में अरस्तु के अपने निष्कर्षो का बड़ा योगदान था। राजतंत्र को लेकर प्लेटो के जीवनानुभव बहुत ही कड़वे थे। आरंभ में सायराक्स के सम्राट डायनोसियस से उसके अच्छे संबंध थे। उसका संबंधी प्लेटो का गहरा शिष्य था। परंतु कुछ ही अवधि के बाद डायनोसियस प्लेटो का दुश्मन बन गया। नाराज होकर उसने प्लेटो को दास के रूप में बेचना चाहा। कुछ मित्रों की मदद से बड़ी मुश्किल से प्लेटो खुद को बचा पाया था। एथेंस के लोकतंत्र को वह सुकरात की हत्या का दोषी मानता था। उसके सापेक्ष अरस्तु के व्यक्तिगत अनुभव बहुत अच्छे थे। उसके पिता सिकंदर के दादा के राजदरबार में थे। जहां राजतंत्र था। एक अन्य राजतंत्र माइसिया के राजा से उसके व्यक्तिगत संबंध हमेशा ही अनुरागपूर्ण थे। एथेंस के गणतंत्र ने उसका स्वागत किया था तो सिंकदर जैसे महत्त्वाकांक्षी सम्राट उसका मित्र था और कदम–कदम पर उसकी मदद करता रहता था। व्यक्ति के जैसे अनुभव हों, उसके विचारों की देह यष्टि उसी के अनुसार ढलती चली जाती है। सुकरात का संबंध साधारण शिल्पकार परिवार से था। सोफिस्टों के बौद्धिक वितंडा को उसने गहराई से देखा–समझा था। सोफिस्टों का केवल सत्तावादी नजरिये से जीवन को देखना समझना उसे बहुत अखरता था। उसे लगता था कि समाज की अनेक समस्याएं दिखावे की संस्कृति की वजह से हैं। यहां तक कि गणतांत्रिक शासन प्रणाली भी जिसपर एथेंस को गर्व करता है, दिखावे की संस्कृति का शिकार है। जबकि सत्य दिखावे की नहीं, आत्मसात करने, आचरण में उतारने की वस्तु है। इसलिए उसने सोफिस्टों का विरोध किया था, जो तर्क को दूसरों को प्रभावित की कला मानते थे। सोफिस्टों को समाज का समर्थन था। सुकरात का मानना था कि कोरे तर्क को ज्ञान का पर्याय समझने वाले सोफिस्टों को तर्क के आधार पर ही परास्त किया जाए। उसके लिए उसने ऐसी तर्कशैली विकसित की, जिससे सामने वाला स्वयं निरुत्तर हो जाता था। वह कोरे वितंडा से परे, किसी भी निष्कर्ष से पूर्व ज्ञान को प्रत्येक कोण से परख लेने की नीति थी। जिसके लिए विषय का सर्वांगीण बोध आवश्यक था। जाहिर है सोफिस्टों को इसका अभ्यास न था। इसलिए न्याय पर विमर्श के दौरान थ्रेचाइमस जैसा सोफिस्ट विद्वान भी सुकरात के आगे पराजय स्वीकारने को विवश हो जाता है।

समानता का आशय यह नहीं है कि व्यक्ति की पसंदों का ध्यान न रखा जाए। न्याय इसमें है कि प्रत्येक नागरिक को विकास के समान अवसर प्राप्त हों। इसके लिए अवसरों की समानता तथा किसी कारणवश विकास में पिछड़ चुके हैं नागरिकों को विशेष प्रोत्साहन देकर मुख्यधारा में लाने की कोशिश करते रहना कृ न्याय और समाजीकरण दोनों की प्रथम कसौटी है। अरस्तु ने न्याय को सर्वसाधारण के सामान्य हित की संज्ञा दी है। उसके अनुसार न्याय के दो पक्ष होते हैं। पहला व्यक्ति पक्ष और दूसरा वस्तु पक्ष, व्यक्ति का संबंध भी प्रकारांतर में वस्तुओं से होता है। उसके अनुसार न्याय का तकादा है कि सभी मनुष्यों को समान वस्तुएं निर्दिष्ट की जानी चाहिए। पर कैसे?

यहां एक पेंच है जिससे समानता की हमारी सार्वत्रिक अवधारणा संकट में पड़ जाती है। समानता का विचार न तो रूढ़ है न ही व्यक्ति–निरपेक्ष, सभी व्यक्तियों को सभी अवसर दिए जाने का अभिप्राय यह नहीं है कि कोई व्यक्ति अपनी रुचि या अन्यान्य कारण से किसी पद के अयोग्य है तो समानता के सिद्धांत के अनुसार उसे उस पद की जिम्मेदारी सौंप देनी चाहिए। समानता की सीधी–सी अवधारणा है कि सभी व्यक्तियों को सभी अवसर प्राप्त हों। तदनुसार प्रत्येक नागरिक को यह अवसर मिलना चाहिए कि यदि वह स्वयं को राजपद के योग्य बना सके, तो वह पद उसकी पहुंच से दूर नहीं है। राज्य का हित भी इसमें है कि नागरिकों को यथा–योग्य पद प्राप्त हों। राजा उसी को चुना जाए जो राजा बनने के योग्य है। अरस्तु के अनुसार व्यक्ति के अधिकार उसकी योग्यता पर निर्भर करते हैं। तदनुसार राजा बनने का अधिकार उसी को मिलना चाहिए जो राजपद के योग्य है। श्रेष्ठ राज्य अपने लिए कसौटियां स्वयं तय करता है, जिनके माध्यम से वह स्वयं को नियंत्रित एवं विकासरत रख सकता है। वीरता, व्यक्तित्व, व्यवहार कुशलता, दूरदर्शिता, बुद्धिमानी जैसे उदात्त चारित्रिक गुण यदि राजा बनने के लिए अपरिहार्य हैं – तो समानता के सिद्धांत के अनुसार जिस व्यक्ति में ये सभी गुण पर्याप्त मात्रा में मौजूद हों, उसे राजा बनने का अधिकार मिलना चाहिए। इसपर उसके परिवार अथवा उन गुणों को जिनका राजा के लिए अपेक्षित गुणों से कोई संबंध नहीं है,कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।'पॉलिटिक्स' के तीसरे खंड के 12 वें अध्याय में अरस्तु बासुंरीवादक का उदाहरण देता है। –

''यदि बहुत से व्यक्ति बासुरी वादन की कला में निपुण हों तो उनमें से किसी व्यक्ति को सिर्फ इस कारण अच्छी या अधिक बांसुरियां नहीं दी जानी चाहिए, कि उसका संबंध किसी उच्च कुल से है।''

आगे वह स्पष्ट करता है–

''बासुरी वादन एक कला है, जिसका व्यक्ति के कुल से कोई संबंध नहीं है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति बासुरी वादन की कला में पीछे है, मगर कुल और सुंदरता के मामले में बाकी प्रतिस्पर्धियों से आगे तो भी अच्छी अथवा सर्वाधिक बासुंरिया किसी वाद्य कला में निपुण व्यक्तियों को ही दी जानी चाहिए।।।। कुल परिवार की सदस्यता के आधार पर भी व्यक्ति अच्छी बांसुरियों की दावेदारी कर सकता है, परंतु उसमें उन गुणों की प्रधानता अपरिहार्य है, जो बांसुरी वादन की कला के लिए अत्यावश्यक हैं।''

आशय है कि श्रेष्ठ वस्तुएं यथा–योग्य व्यक्तियों को प्राप्त हों। उन्हें प्राप्त हों, जिन्हें उनकी आवश्यकता है और जो उनका श्रेष्ठतम उपयोग करने में सक्षम हैं। परंतु योग्यता का मापदंड क्या हो? प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि में योग्यतम होता है। फिर जो अधिकतम की दृष्टि में श्रेष्ठतम है, उसके भी आलोचक हो सकते हैं। इसे 'एथिक्स' में समझाया गया है। अरस्तु की यह पुस्तक नीतिशास्त्र की श्रेष्ठतम कृतियों में से है। सर्वथा मौलिक इसके माध्यम से अरस्तु ने नैतिकता को उस दौर में परिभाषित किया, जब राज्य पर धर्म का नियंत्रण था। उत्तराधिकार में जो भी प्राप्त हो, उसे बचाए रखने और उसके माध्यम से अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को शिखर तक ले जाने के लिए सारे उद्यम किए जाते थेय फिर उन्हें धर्म का नाम दे दिया जाता था। अरस्तु के अनुसार न्याय ज्ञान–विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अंतिम और वास्तविक लक्ष्य है। मनुष्य जो ज्ञानार्जन करता है, वह तब तक अनुयोगी या अल्प–उपयोगी माना जाएगा, जब तक

उससे किसी न किसी रूप में न्याय की पुष्टि न होती है। ताकि प्रत्येक नागरिक को यह विश्वास हो जाए कि जो उसका प्राप्य है, वह उसको यथासमय प्राप्त होता रहेगा। आखिर यह कैसे सुनिश्चित हो कि व्यक्ति को जो अधिकार है, वह उसे प्राप्त हैं। यहां राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। राज्य का कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि उसके राज्य में किसी भी नागरिक के अधिकार बाधित न हों। न ही किसी के साथ कोई पक्षपात हौ। यह ध्यान रखते हुए कि समानता न्याय का उद्देश्य है, लेकिन एकमात्र समानता को भी न्याय का पर्याय मान लेना अनुचित होगा। उदाहरण के लिए दो भिन्न व्यक्तियों की कल्पना कीजिए, जिन्हें खराद मशीन पर कोई पुर्जा बनाने को दिया जाता है। मान लीजिए उनमें से पहला दस नगों का उत्पादन करता है और दूसरा उतनी ही अवधि में बीस नगों का। चूंकि व्यक्ति का अपने श्रम पर अधिकार होता है, इसलिए कानून और नैतिकता दोनों दृष्टि में यह उचित माना जाएगा कि जिस व्यक्ति ने अधिक उत्पादन किया है, उसकी अतिरिक्त लाभ में आनुपातिक साझेदारी हौ। पूंजीवादी व्यवस्था इसी को न्याय मानती है। उसके अनुसार इससे समाज में स्पर्धा बढ़ती है। चीजें सस्ती होती जाती हैं। उसकी भरपाई के लिए उत्पादक उत्पादन वृद्धि का सहारा लेता है। उससे रोजाकर के अवसर बढ़ते हैं। उसके फलस्वरूप हुई उत्पादन वृद्धि का लाभ पूरे समाज को पहुंचता है। पूंजीवादी राज्यों की सरकारें भी कमोवेश वही सोचती हैं। परंतु राज्य की मजबूरी है कि उसे समाज के विभिन्न वर्गों के बीच संतुलन बनाकर रखना पड़ता है। उसके लिए वे अधिक आय वाले व्यक्तियों पर कराधान की सीमा बढ़ाकर बाकी लोगों को संतुष्ट करने का प्रयास करती हैं। यह केवल दिखावा हीहोता है, क्योंकि एक ओर जहां अधिक कर उगाही का का नाटक किया जाता है, वहीं दूसरी ओर पूंजीपतियों को विभिन्न प्रकार की छूट देकर, ओने–पौने दाम में राज्य के संसाधन लुटाकर प्रसन्न रखा जाता है।

अरस्तु के अनुसार कानून विधायी व्यवस्था है। राज्य यदि नागरिकों के प्रति उदार है तो कानून नागरिक अधिकारों के पक्ष में झुका पाएगा और मानव मात्र के अधिकारों का ध्यान रखेगा। यदि कानून का गठन कुछ लोगों की मर्जी से, स्वार्थ– भावना के साथ हुआ है तो उसका झुकाव शिखर पर मौजूद अल्पतंत्र अथवा कुलीनतंत्र के पक्ष में नजर आएगा। केवल उन्हीं लोगों के भले की सोचेगा है जो किसी न किसी रूप से सत्ता से जुड़े हों। निरंकुशता की भावना से गठित कानून केवल तानाशाह की मर्जी से संचालित होंगै। सही मायने में तो वे तानाशाह के स्वार्थ से इतर कुछ हो ही नहीं सकतै। इससे हम राज्य में न्याय की मौजूदगी को परखने के लिए कुछ मापदंड बना सकते हैं। ऐसे कानून जिनसे राज्य की उदारता झलकती हो, जो समाज के अधिक से अधिक लोगों के कल्याण की भावना से बनाए गए हों, वे कानून न्याय संगत माने जाएंगै। जबकि ऐसे कानून जिनसे अल्पसंख्यक वर्गों की स्वार्थसिद्धि होती हो, अथवा जिनका गठन तानाशाह की इच्छाओं को दूसरों पर लादने के लिए हुआ हो, उन्हें न्यायसंगत मानने में हमें संकोच होगा। जिस राज्य में पहली कसौटी का पालन होगा, वह कल्याण राज्य के मापदंडों के अनुरूप होगा। उसमें शुभ की व्याप्ति होगी। तदनुसार न्यायकारी शक्तियों का सत्ता–प्रेम अथवा उनपर शासक वर्गों का नियंत्रण शासन की निरंकुशता का परिचायक होता है।

इस विवेचन से न्याय को समझा जा सकता है। न्याय हमेशा दूसरों के प्रति होता है। लेकिन मनुष्य दूसरों के प्रति तभी न्याय कर सकता है, जब उसे अपने प्रति न्याय की उम्मीद हौ। इस तरह न्याय सद्‌गुण है। व्यक्ति का समाज और समाज का अपने नागरिकों के प्रति कल्याण – भाव जिससे झलकता हो, वह सद्‌गुण है। समाज में सद्‌गुण से श्रेष्ठ कुछ नहीं होता। वह निर्मेल्य होता है। अरस्तु के अनुसार न्याय कुल मिलाकर संपूर्ण सद्‌गुण या

सद्गुणों का समुच्चय है। वह इसलिए सद्गुण है, क्योंकि वह व्यक्ति का अपने पड़ोसियों, अपने मित्र, हितैषी यहां तक कि आलोचकों के प्रति न्याय–भाव को दर्शाता है। कुल मिलाकर सद्गुण किसी भी समाज की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं। यदि कोई व्यक्ति केवल अपने मित्रों और सगे–संबंधियों के प्रति न्यायपूर्ण आचरण करता है और बाकी समाज के प्रति वैसा करने से बचता है, तो उसका आचरण न्याय की कसौटी पर स्वार्थपूर्ण माना जाएगा। दूसरे शब्दों में न्याय सद्गुण है और सद्गुण वह है, जिसे कोई व्यक्ति दूसरों के प्रति कल्याण–भाव के साथ करता है। न्यायपूर्ण व्यक्ति वह है जो दूसरों की हितसिद्धि के लिए बिना किसी स्वार्थ भाव से प्रयासरत रहता है। और ऐसा व्यक्ति जो केवल स्वार्थ सिद्धि में लीन रहता है, दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाता है अथवा उन वस्तुओं पर कब्जा करता है, जो किसी दूसरे का अधिकार हैं, अन्यायी की श्रेणी में आएगा।

संदर्भ :

WWW.WIKIPEDIA.COM

WWW.GYANKOSH.COM

WWW.HINDIVIBES.COM

WWW.FACTSGAZAB.COM

WWW.THINKDEAR.COM

WWW.BODHVICHAR.COM

WWW.STUDYTEG.COM

WWW.GYANUDAY.COM